हिन्दी सिनेमा और स्त्री : कल,आज और कल

(नारी चेतना के विशेष सन्दर्भ में)

सिनेमा के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाने-पहचाने जाने वाले सत्यजीत राय का कथन है,''सिनेमा साधन है,चरित्र या स्थिति के विकास की सच्ची अभिव्यक्ति का |.....छायांकन की बारीकियों और गहराई में ,भावना की प्रखरता में, साधनों की सीधे-साधे ,सही और सशक्त उपयोग में,सिनेमा की समानता कोई कला नहीं कर सकती |'' (धर्मयुग-3 मई1964 पृ*39) चेतन आनन्द ने सिनेमा को एक महान रचनात्मक माध्यम स्वीकार करते हुए कहा था कि,''सिनेमा कहानी प्रस्तुत करने का एक ज़रिया है | इसलिए फ़िल्म एक जुबान है भाषा है, | कहानी कई तरीकों से प्रस्तुत की जा सकती है-बोले हुए शब्दों में, लिखे हुए शब्दों में, नृत्य में,कविता में, गीत में,हाव भाव में,तस्वीर में; सिनेमा में ये सब समा जाते हैं | सिनेमा सब जरियों का एक समूह है | सिनेमा सिर्फ़ कला ही नहीं,कलाओं में महान कला है | सिनेमा एक बौद्धिक माध्यम नहीं,न ही वह निबन्ध लेखन है ,यह एक कविता है ,एक नाटक है''(धर्मयुग-4 सितम्बर1966पृ* 39)

"BE, a woman, a wife,a mother,an individual in india means many things.It means that you are a store house of tradition and culture. In contrast a volcano of seething energy of strength and power .,that can motivate a whole generation to change its value,its aspirations,it's very concept of civilized life .(Femina page14,17 August 1973)

सचमुच स्त्री का जीवन अनेक और असंख्य विपरीत ध्रुवों की बीच झूलता हुआ ही पुष्पित-पल्लवित माना जाता रहा है | हिन्दी सिनेमा ने अपने चित्रण में इस असंभव को भी ब-खूबी संभव कर दिखाया है | कहते हैं न कि रील लाइफ़ रीयल लाइफ़ का ही प्रतिबिम्ब है | सिनेमा की मूल प्राण चेतना का स्रोत भी समाज ही होता है | ऐसे में समाज में जो कुछ भी घटित हो रहा है वही सब सिनेमा में दिखाया जाता है,साथ ही प्रत्येक सृजन की भाँति उसमें कुछ नया और सार्थक भी जुडा होता है | सच है कि सिनेमा छिपे हुए रहस्य को प्रकाशित करने की ताकत रखता है | फ़िल्मकार, 'मनुष्य को कलाकार में रुपान्तरित करके उसे जीव का सम्पूर्णत्व पाने में योगदान करता है (संवेद-18 -पत्रिका,संपादक-किशन कालजयी-आलेख, भारतीय सिनेमा का लोकशास्त्र - अमित कुमार शर्मा)

आर्य संस्कृति से पहले भी सिन्धु घाटी और मोहनजोदडो सभ्यता में प्राप्त अवशेषों में भी मातृदेवी की मूर्ति के प्रमाण मिलते हैं | जिससे पता चलता है कि स्त्री का दैवीय स्वरुप और उसकी उपासना आर्य सभ्यता से भी पहले से विद्यमान रही है | हमारे यहाँ धन या

विद्या,भक्ति या शक्ति की अजस्र स्रोत के रुप में तो 'देवी' माँ सर्वमान्य संस्थापित है | महादेवी के शब्दों में,''उसका दिव्यात्मा रुप भारतीय संस्कृति में अनेक रुपों में स्थिति रखता है- भारतमाता के रुप में,प्रकृति के रुप में,सांख्य दर्शन में,माया रुप में,वेदान्त दर्शन में,शक्ति रुप में,तन्त्र साधना में,राधा-सीता के रुप में | अत: उसे भारतीय संस्कृति के विकास क्रम से भिन्न करके देखना असंभव है | ''(भारतीय संस्कृति के स्वर-पृ*81) इतना ही नहीं, "वेदकालीन संस्कृति में नारी के व्यापक सौन्दर्य तथा सृजनशक्ति की जो दिव्य भावात्मक कल्पना की गई है उसने उसकी सामाजिक स्थिति को भी गरिमा दी है |(वही-पृ*83) शिव के अर्धनारीश्वर रुप से भी स्त्री-पुरुष की समानता द्योतित होती है | वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार एकाकीपन से ऊबरने के लिए ब्रह्मा ने अपने आप को दो भागों मे बाँट लिया था-दायाँ भाग पुरुष और वाम अंग स्त्री के रुप में सामने आया | तभी स्त्री को वामा भी कहा जाता है | किसी नारीवाद के प्रभाव से नहीं भारतीय संस्कृति में नारियाँ स्वतन्त्र और खुला व्यवहार करती थी |

मगर वास्तविकता में स्थितियाँ ऐसी नहीं है अब, कि नारी को सर्वत्र सम्मान ही मिल रहा हो | सच्चाई तो यह है कि मध्यकाल के बाद हर क्षेत्र में पुरुषों का ही आधिपत्य है | ऐसे में साहित्य, समाज और सिनेमा में आई स्त्री-विमर्श की आँधी भी कुछ अच्छे और कुछ बुरे,मिले-जुले प्रभाव छोड रही है | जो कहीं पुरुष विरोधी खेप तैयार कर रही है तो कहीं परम्परा-परिवार-प्रजनन से नारी को बिदका रही है | 'नारीवादी विमर्श' शीर्षक से अपनी पुस्तक में राकेश कुमार लिखते हैं,"जो लोग स्त्री विमर्श को खारिज करते हैं,क्या यह उनका पितृसत्तात्मक तर्क नहीं है? वह तो एक स्त्री के जीवन की लहू-लुहान,क्षत-विक्षत सच्चाई है |'' (पृ*12) मल्लिका सेनगुप्त ने इस संबंध में एक टिप्प्णी की जिसे यहाँ रखने का लोभ मैं संवरित नहीं कर पा रही हूँ," पितृसत्तात्मक समाजों ने जितनी ज़िन्दगियों को आज तक तबाह किया है उसकी संख्या आणविक युद्धों मे मरने वालों की संख्या से कई गुना ज्यादा है |*****इसलिए इस दुनिया का सबसे बडा संकट लिंग भेद है जिसकी चपेट में आकर सिर्फ़ आधी मानव जाति ही नहीं,बल्कि समूची मानवता को ही खतरा है |(पूर्वग्रह-104,पृ*97) वास्ताविक स्थितियाँ क्या हैं ??? यहाँ दो अतिवादी दृष्टिकोणों के मद्देनज़र, ममता कालिया का विश्लेषण बहुत ही सटीक और सन्तुलित लगता है | उन्हीं के शब्द उधार लेकर कहना चाहूँगी,''आज नारी चेतना ने एक आक्रामक स्वरुप ले लिया है | लोग नारी-विमर्श का मतलब देह-विमर्श कहते हैं | हम सोशल जस्टिस चाहते हैं,वे देह-मुक्ति की बात कहते हैं | दुरुपयोग तो उसी का होगा जो स्वाधीनता का इस्तेमाल करेगा | ऐंटी-फ़ेमिली,ऐंटी मैन,सारे समाज के मर्दों को मार डालो तो क्या समाज बचेगा ? एक सन्तुलन होना चाहिए |'' एक लेखिका होने के नाते भी वे मानती हैं कि,''आप लेखक हैं इसका मतलब आपको छूट नहीं मिल जाती है कि आप कुछ भी लिखें'' | स्वाधीन चेतना के दुरुपयोग से सन्तुलन बिगडना शुरु हो जाता है | अति की जद से पहले ही स्वाधीनता का उपयोग करने वाले को सावचेत हो जाना चाहिए | फ़िर वह नारी हो या पुरुष-यह दोनो पर ही समान रुप से यह नियम लागू होता है | अन्यथा स्वतन्त्रता का यह स्वर्णमृग अपने आकर्षण जाल में

बाँधकर किस छलावे या विनाश की ओर ले जाएगा यह सहज कल्पनीय है | स्त्री होने के नाते ये ज़रुर कहूँगी कि हमारी सारी लडाई सिर्फ़ वर्चस्व के विरोध में है,फ़िर वह चाहे पुरुष की दादागिरी हो या किसी अन्य की, उसे बेवजह झेल पाना अब स्त्री के बस में भी नहीं | हाँ इतना अवश्य है कि,उसका विरोध बहुत गरिमापूर्वक किया जाएगा | भारतवर्ष में अगर हम पीछे वैदिक काल तक जाकर देखते है तो हमारी संस्कृति में स्त्री को एक सहज सम्माननीय स्थान प्राप्त था | भारतीय नारी को मतदान के अधिकार, स्वाधीनता या समानता के लिए लडाई नहीं लडनी पडी थी | पुरुष और स्त्री के बीच सन्तुलित समानता का नितान्त अभाव भी नहीं था | गार्गी,मैत्रेयी,घोषा,अपाला जैसी ब्रह्मवादिनियाँ कोई काल्पनिक चरित्र नहीं थीं | मगर विदेशी आक्रामणों की वज़ह से स्थितियाँ मध्यकाल में जाकर ही इतनी बिगडी थी कि स्त्री को घर की चारदीवारी में कैद करके रखा जाने लगा आधुनिक युग में अन्य पाश्चात्य प्रभावों की आँधी के साथ आया स्त्री विमर्श भी कुछ अच्छे और कुछ बुरे रुप में भारत में भी सक्रिय हुआ है | मगर हमें यहाँ की ज़मीनी सच्चाइयों के साथ परीक्षण करते हुए ही हर चीज को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए | महादेवी वर्मा ने इस सन्दर्भ में बहुत पहले ही अक्षरश: सही कहा था,“हमें न किसी पर जय चाहिए ,न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुत्व और न ही किसी पर प्रभुता | केवल अपना वह स्थान ,वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है,परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग नहीं बन सकेंगी |’’(श्रृंखला की कडियाँ : ‘अपनी बात’ भूमिका से)

हिन्दी सिनेमा के शुरुआती दौर में तो नारी का रोल भी पुरुष पात्र ही अदा किया करते थे | जैसे पहली फ़िल्म-‘राजा हरिश्चन्द्र’(1913) में नारी की भूमिका अन्ना सालुंके नामक किसी पुरुष पात्र ने ही निभाई थी | कालान्तर में यह सोच बदली और स्त्रियाँ भी अभिनय के क्षेत्र में आईं | 1923 में बनी ‘’स्टेप मदर’’भी एक और फ़िल्म थी | ’ 1924 में धीरेन्द्र गाँगुली के द्वारा हैदराबाद के निजाम के संरक्षण और सहयोग से बनायी मूक युगीन फ़िल्म “रज़िया बेग़म” एक क्रान्तिकारी फ़िल्म थी | जिसकी वजह से बाद में नाराज होकर निजाम ने उन्हें रियासत से बाहर निकाल दिया था | 1925 में बनी ‘’कुलीन कान्ता’, 1926 में ’प्रेम सन्यास’’(पृ*103) चन्दुलाल शाह की ‘गुण सुन्दरी’ जैसी कई फ़िल्में स्त्री केन्द्रित थी | अफ़सोस कि हिन्दी सिनेमा के इतिहास की पहली बोलती फ़िल्म

आलमआरा'(1931) और 'सैरन्ध्री'(1933) दोनों ही महत्वपूर्ण निधियाँ अब अनुपलब्ध हैं

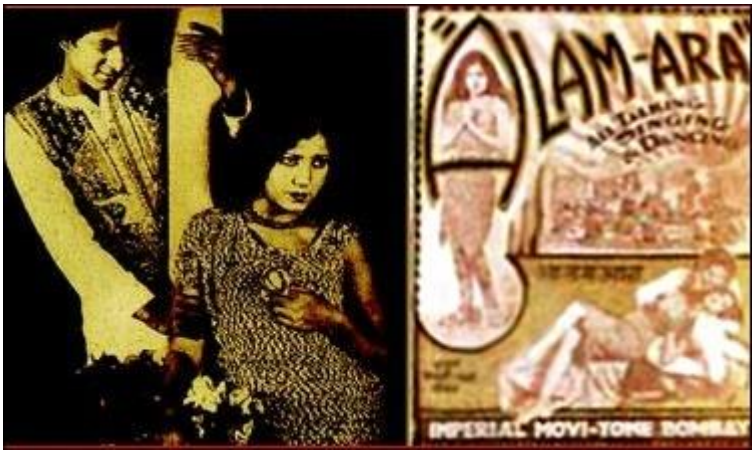

"नेशनल फ़िल्म आर्काइव ऑफ़ इण्डिया' के संस्थापक श्री पी*के* नायर के अनुसार ये फ़िल्में 21 most wanted Indian treasures में शामिल हैं | ये खुशी की बात है कि ये दोनों ही स्त्री केन्द्रित फ़िल्में थी,'आलमाआरा' में ज़ुबैदा' ने तो 'सैरन्ध्री'में 'लीला'ने अभिनय किया था, जिसके "भारतमाता' के रुप में प्रतीकात्मक प्रस्तुति के कारण इसे अंग्रेज़ों ने प्रतिबन्धित कर दिया था |"(भारतीय सिने सिद्धान्त-अनुपम ओझा पृ*98) आलमआरा में मास्टर निसार के साथ जहाँआरा ने 17 गीत गाए थे 1935 में बनी 'देवदास' ,बंगला, हिन्दी और असमिया तीनों भाषाओं में थी | मगर वो अब बांग्लादेश फ़िल्म आर्काइव में संरक्षित है जो 40% नष्ट हो चुकी है | जिसके विषय में प्रसिद्ध बांग्ला फ़िल्मकार ऋत्विक घटक का कहना है कि,''देवदास एक तरह का घिनावना चरित्र है | वह डरपोक है जबकि पारो' की कथा एक स्त्री के साहस की कथा है -एक ऐसी स्त्री जो अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार करती है |" दरअसल देवदास की कहानी पारो की ही कहानी है |(सिनेमा कल, आज और कल-विनोद भारद्वाज-पृ*191)

1936 में बनी बॉम्बे टॉकीज की 'अछूतकन्या' में 'देविका रानी'जैसी सशक्त अभिनेत्री ने अभिनय किया | 'अछूत कन्या' 'की कस्तूरी, जड नैतिकता के जर्जर मानदण्डों को तो तोड नहीं पाती मगर अपनी जान देकर अपने पति और प्रेमी दोनों को ही बचा लेती है | अपनो के लिए सर्वस्व बलिदान करना भारतीय नारी का ही चरित्र है | आज 80 साल बाद भी इस फ़िल्म को प्रंशसकों द्वारा पसन्द किया जाता है | 1937 में वी* शान्ताराम के द्वारा स्त्री स्वाधीनता का स्वर बुलन्द करने वाली फ़िल्म बनाई गई थी जिसका नाम था,"दुनिया न माने"| इस फ़िल्म के द्वारा एक बूढे के साथ ब्याही

गई 'निर्मला', सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपना विरोध दर्शाती नायिका के रुप में सक्रिय होकर भी अंत तक भी अपनी मर्यादा की अनुपालना करती है | यहाँ स्त्री के उस अनुपम रुप को देखा जा सकता है,जिसे हम अपने सांस्कृतिक वैशिष्टय के सन्दर्भ में देख सकते हैं | 1937 में ही न्यू थियेटर्स के द्वारा 'अनाथ आश्रम' नामक फ़िल्म बनाई गई,जिसका मूल विषय विधवा विवाह है |1939 में आई वी* शान्ताराम की सुन्दारतम फ़िल्मा 'आदमी' में भारतीय सिनेमा में शायद पहली बार एक साहसी विषय को लेकर बनी इस फ़िल्मा में वेश्याओं के जीवन की वास्ताविकता का अंकन बडी ही संवेदनशीलता के साथ किया गया है | जो बहुत ही शिद्दत से समाज को झकझोरता है और भारतीय मनीषा के समक्षा कई अनकहे स्वाल उठाता है |

"1935-40 के दौर में वैल्श और यूनानी मूल की ऑस्ट्रेलियाई अभिनेत्री नाडिया ने हँटरवाली ,डायमंड क्वीन' सरीखी स्टंट फ़िल्मों से एक अलग दर्शक वर्ग को बाँध रखा था | होमी वाडिया के निर्देशन में बनी इन ऐक्शन फ़िल्मों की एक खासियत ये भी थी कि नाडिया अपने स्टंट दृश्यों में 'डबल'का इस्तेमाल नहीं करती थी | टाइपिस्ट से सर्कस कन्या', और फ़िर नर्तकी' बनी नाडिया ने स्त्री की जुझारु छवि को पर्दे पर प्रस्तुत किया |''(सिनेमा- कल,आज और कल-विनोद भारद्वाज,पृ*191) फ़र्स्ट लेडी का खिताब लिए -'देविका रानी' के अतिरिक्त दुर्गा खोटे,जहाँआरा, कज्जन,जद्दनबाई,शांता आप्टे,कानन देवी,जमुना,छाया देवी,जैसी अभिनेत्रियों ने परदे पर आकर अभिनेत्रियों को जैसे एक अनुपम गौरव प्रादान किया | 1940 में बनी 'औरत' में 'माँ' के मुख्य पात्र को सरदार अख्तर ने बखूबी निभाया | उस किरदार के रुप में ये स्वत: प्रमाणित होता है कि ''माँ''के रुप में स्त्री का स्थान न केवल सशक्त था बल्कि उसका निर्णायक और मुखिया का स्वरुप भी समाज में स्वीकृत था | वह सिनेमा के अंत में अपने दुराचारी पुत्र को उसी के अस्त्रा से मार डालती है और कहती है, "एक औरत ने गाँव वालों को वचन दिया था,उसे पूरा किया |'' इतना ही नहीं बाद में वो ईश्वर से अपने लिए मृत्यु का दान माँग करके, अपने ममत्व की संरक्षा भी पूरी शिद्दत से करती है | 1941 में ही फ़िर स्त्री केन्द्रित 'चित्रलेखा'केदार शर्मा के द्वारा बनाई गई | जिसका रंगीन संस्करण पुन:1964 में बनाया गया | स्वाधीनता पूर्व का सिनेमा भी स्त्री के चेतन व्यक्तित्व का आख्यानक है |

पूर्व सिनेमा के कथानक में आदर्श का कुछ आधिक्य था जो भारतीय धर्म, इतिहास और पुराणों पर आधारित था, तो **स्वातन्त्र्योत्तर सिनेमा** में व्यावसायिकता के बढते दबाव और विकास की बढती आहट से हिन्दी सिनेमा में सार्थक परिवर्तन आने लगा था | अनुपम ओझा ने टिपप्णी की है, "1947 से 1968 तक की फ़िल्मों में एक प्रयोग की बैचेनी दिखाई देती है | नए माहौल में सिनेमा ने खुद को बखूबी बदला | पुराने स्टीरियो टाइप नारी-चित्रण के पिष्ट-पेषण से निकलकर,पहली टेलीकलर फ़िल्म-झाँसी की रानी'(1953), 'मदर- इण्डिया'(1957-ऑस्कर में जानेवाली पहली भारतीय फ़िल्मा) ''आँधी'', ''तीसरी कसम'', ''उसकी रोटी''',सुजाता'(1959)बन्दिनी(1963) जैसी

फ़िल्मों ने नए इतिहास की रचना की,जिसे आज तक भी मिटाया न जा सका | सच ही है, पचास के दशक में 'नायिकाओं के किरदार न केवल कुछ अर्थपूर्ण' हुआ करते थे बल्कि उनकी सकारात्मक सार्थक अर्थवत्ता ने उन्हें हमेशा जिन्दा बनाए रखा है | 'मदर इण्डिया' भारतीय नारी का साक्षात प्रतिबिम्ब है,जो हर संघर्ष को मुँहतोड जवाब देती है | आज द्या,प्रेम, सहानुभूति,क्षमा जैसे मानवीय सदगुणों से सम्पन्न भारतीय नारी जीवन की हर प्रतिकूल परिस्थिति का सामना भरपूर जीवट से करते हुए कभी विचलित नहीं होती | ऐसे पात्र सिनेमा के इतिहास में तो अमर हैं ही, भारतीय जन मानस के दिल दिमाग पर भी उनकी अमिट छाप सदा सर्वदा के लिए अंकित हो चुकी है | हाल ही में स्टेनफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी यू*एस* के वैज्ञानिकों ने एक शोध के बाद सिद्ध किया है कि सदगुण का जीवन को उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है | इन्हें सिखाने के लिए आयोजित कार्याशाला में पहले से ही अमरीकावासियों ने एडवान्स बुकिंग करानी शुरु कर दी है |(why forgiveness is such a great virtue by Acharya Gyan Sagar-athe times of India 17 sep.2016 page 12)| भारतीय नारी तो ऐसे सदगुणों का साक्षात प्रतिबिम्ब रही है | परम्परागत ढाँचे में भी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण अपने किरदार को कुछ खास मायने देने वाली, ऐसी ही एक माता, खेत में बुआई करते हुए अपने कन्धे पर हल रखकर चलाते हुए अपने नन्हे नौनिहालों को भी इसी तरह का प्रशिक्षण देती हुई गाती है ;

''दुनिया हम आए है तो जीना ही पडेगा,जीवन है अगर ज़हर तो पीना ही पडेगा |''

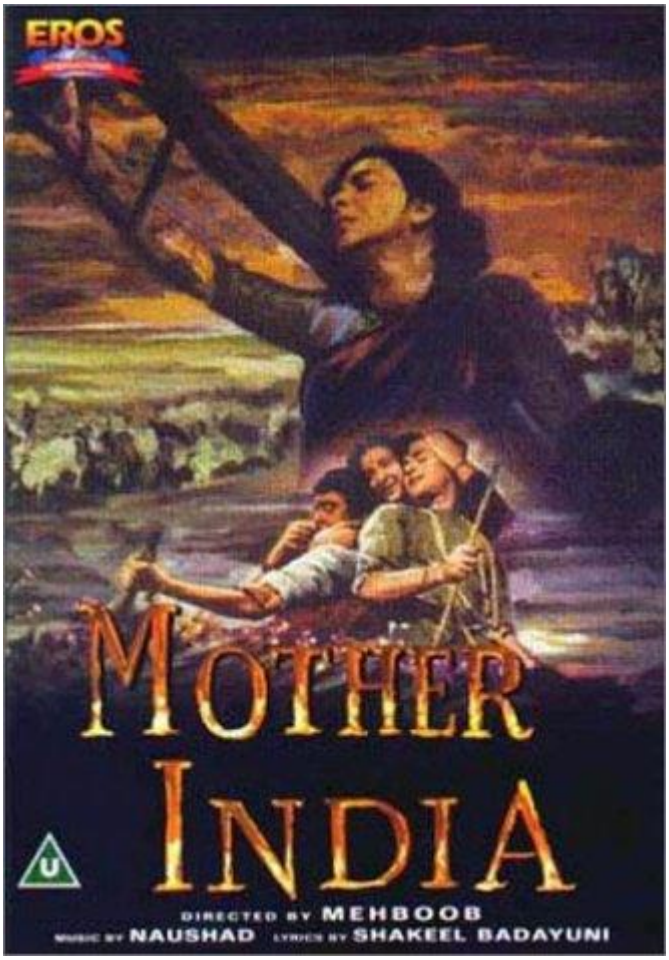

The history of western feminist film theory begins in1970 and parellels the development of film theory itself as an academic discipline .''(feminist film studies,by Karen Hollinger ; page 7) हिन्दी सिनेमा में ऐसी कोई विशेष समय सीमा नहीं | विनोद भारद्वाज ने तो अपनी पुस्तक में एक स्थान पर कहा है कि 70 के बाद हीरोइनों की भूमिकाएँ लगभग बेकार और सजावटी होती चली गई |'(पृ*147)मगर सिनेमा का इतिहास देखते है तो हमें ऐसा नहीं लगता क्योंकि 70 के दशक में भी ऐसी बहुत सी फ़िल्में गिनाई जा सकती हैं जो स्त्री के चेतन रुप की आख्यानक हैं |

स्त्री विमर्श की बाढ के बीच भी हिन्दी फ़िल्में ये ध्यान रखे हुए हैं कि हमें आयातित अमरीकी मॉडल या ऐसे ही कोई अन्य विदेशी तरीके नहीं अख्तियार करने हैं | अपनी मिट्टी से जुडे समाधान ही यहाँ कारगर होंगें | हमारा अपना तरीका है | भारतीय नारी को कभी वोट के या ऐसे ही किसी अन्य अधिकार के लिए किसी झण्डे तले एकजुट होकर पुरुषों के खिलाफ़ संघर्ष या आन्दोलन करने की जरुरत नहीं पडी | और न ही हमें पुरुष के स्वभाव का अनुकरण करके उनकी तरह परुष बनकर पितृसत्ता के प्रभुत्व से मुक्ति के लिए लडाई लडनी है | हमारे संघर्ष के औज़ार भी हमारे अपने ही ईजाद किए हुए है | भारत में नारी मुक्ति का सवाल मेरी वोलस्टोन क्राफ़्ट की 'अ

विंडिकेश्न ऑफ़ द राइटस ऑफ़ विमेन' की तरह के सपोर्ट या किसी आन्दोलन की प्रतीक्षा में कतई नहीं है | हमारे यहाँ तो पुरुषों ने स्त्रियों को खोल से बाहर निकलने की प्रेरणा तो दी ही साथ ही उन्हें उसके लिए हर संभव सहायता भी प्रदान की है | बासु भट्टाचार्य ने जो कहा था,वह दृष्टव्य है-मैं उन स्त्रियों से नफ़रत करता हूँ जो कहती हैं कि "मैं कुछ नहीं करती | मैं एक गृहिणी हूँ |" क्योंकि मेरी दृष्टि में परिवार को चलाने वाली गृहिणी का कार्य अति महत्वपूर्ण है | इस कार्य को स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा ही जिस ढंग से देखा जाता था,वह बिलकुल ग़लत ढंग था |(हम घर नहीं बना रहे-पटकथा,अंक17-बासु भट्टाचार्य-पृ*50) 1972 में बनाई गई बासु भट्टाचार्य की ''अनुभव''स्त्री-संचेतना की दृष्टि से एक नया अनुभव सिद्ध होती है | तनूजा ने नायिका के रुप में बहुत सशक्त अभिनय किया है | विवाह पूर्व के संबंध के विषय में पति द्वारा पूछे बिना ही, वो न केवल उस संबंध को स्वीकार करती है,बल्कि बेबाकी से पति को कह डालती है कि ''उससे मिलने के सम्पूर्ण समय को मिलाकर भी 6 घण्टे से ज्यादा नहीं होते हैं, मगर उन 6 घण्टों में ही उसे शशि से जो अपनत्वा मिला वह 6 साल के विवाहित जीवन में भी अमर से नहीं मिल पाया | वह कहती है कि, ''पुरुष अपने रास्तों का चुनाव खुद करता है लेकिन स्त्री, उसे दूसरों के बनाए रास्ते पर ही चलना होता है |'' मगर उस अतीत से अब उसका कोई वास्ता नहीं था,ये उसके हर क्रिया-व्यवहार से दर्शक को सहज ही समझ आ जाता है | मणि कौल की 1973 में आई 'दुविधा' फ़िल्म में नायिका की ग्रामीण पृष्ठाभूमि होते हुए भी उसे बहुत आत्माविश्वासी दिखाया गया है | भारतीय नारी में जो हीनता ग्रन्थि मध्यकाल में घर करने लगी थी, उससे वह अब फ़िर उबरने लगी है | पाश्चात्य संस्कारों से आई परिवर्तन की हवा जो भारतीय नारी ने भी बखूबी सीख ली है वह है,'अपने अनावश्यक अपराध बोध से विमुक्त होना | आज की नारी ने अब दूसरों के तराजु से खुद को तौलना छोडकर स्वयं अपनी आत्मविश्लेषणात्मक क्षमता को माँजना शुरु कर दिया है | 'जापानी सौन्दर्य के आदर्श-विचार 'वाबी-साबी'' को अपना रही है , जो अनित्यता और अपूर्णता के विश्वास पर आधारित है | यानि कोई पूर्ण परिपक्व या सर्व-गुण-सम्पन्न नहीं हो सकता | अत: उसके दिल-दिमाग में जबरन ठूसे गए आदर्शपरक 'परफ़ेक्शन' के भूत को उतार कर नारी ने यथार्थ की जमीन पर खडे रहने की आदत सीख ली है | ऐसी ही नायिका थी दुविधा'फ़िल्म की |

1974 में अंकुर से एक नयी परम्परा की शुरुआत होती है | 1977 की ''भूमिका'', ''सुबह'',1982 अर्थ, 1982 निकाह, गौतम घोष की 1984 में आई पार, केतन मेहता की 1984 मे आई मिर्च-मसाला- ,1993 की रुदाली,1996 की आस्था,1996में आई बैण्डिक्टा क्वीन,1996 की 'प्रेमग्रंथ',1998 की फ़ायर,जैसी अनेक फ़िल्में हैं जिनसे स्त्री की समाज में स्थिति बहुत मज़बूत होती दिखाई देती है | 'स्मिता को स्वयं भी आधुनिक समाज में स्त्री को समानता दिलवाने वाली फ़िल्म 'सुबह', में सावित्री की भूमिका बेहद पसन्द थी कि वह सामाजिक जीवन में उस तरह के काम करने की कोशिश करती रही जो स्त्री को पुरुष प्रबल समाज में अपनी जगह दिलवाए |'' विनोद भारवाज ने आगे लिखा है कि, ''70 के दशक में हिन्दी सिनेमा में अभिनेत्रियों को ऐसे अनेक अवसर

मिले हैं जो स्त्री की बदलती छवि के साथ न्याय करते हों, और जिनमें न्याय की गुंजाइश हो |*** 80 के दशक में तो ये अभिनेत्रियाँ अपना रोल और पटकथा तक डिक्टेट करने लग पडी हैं |'' (सिनेमा -कल,आज और कल,पृ*63) सत्यजीत रे कहीं भुवन शोम" की नायिका सुहासिनी मुले के सन्दर्भ में लिखा था कि , ''अच्छी अभिनेत्री वह है जो भले ही फ़िल्म के हर फ़्रेम में मौजूद न हो लेकिन हर जगह उसकी याद आपको आती रहे |(वही)

''90 के दशक में हम देखें तो व्यावसायिक सिनेमा की दौड में अभिनेत्री या नायिका के सशक्त चरित्र को ग्रहण सा लग गया है और प्रतिदिन उसकी स्थिति कमजोर पडती चली जा रही है | वस्तुत: इस दशक में अभिनेत्रियों के चरित्र का पतन शुरु हुआ है | यदि हम सातवें दशक में बनी फ़िल्मों की नायिकाओं को देखे तो वे किसी भी मामले में नायकों से कम नहीं थी | महबूब खान की फ़िल्मों में नारी और उससे जुडी समस्याएँ हमेशा मुख्य विषय के रुप में देखने को मिली | उनकी फ़िल्मों ने नायिकाओं को वह जगह दिलवाई है जो आज के सफ़ल नायक को, फ़िल्मकार दिलवाने का प्रयास करते हैं | "मदर इण्डिया'के दिनों में जब 'हीरो'पर्दे पर प्रतिनिधित्व करने लगा था तो कुछ सहयोगियों ने उन्हें अपनी फ़िल्म की शैली में परिवर्तन करने को कहा तो उनका कहना था, "पुरुष अगर शब्द है तो स्त्री उसका अर्थ होती है | अत: मैं अर्थ को ही पर्दे पर दिखाने में ज्यादा विश्वास करता हूँ जिस रुप में वह समाज की देहरी के अन्दर और बाहर सतायी जा रही है | (धर्मयुग-11 दिस*1988पृ* 45)

आज जब व्यावसायिक सिनेमा के दौर में स्त्री की चारित्रिक विशेषताओं का विलोपन देखा जा रहा है तो क्या उसके लिए स्त्री स्वयं ही जिम्मेदार नहीं ? इस सन्दर्भ में अशोक कुमार का कथन दृष्टव्य है, " उन दिनों में भी फ़िल्में खूब बनती थी **** उस समय तक कोई भद्दापन न फ़िल्मों में न बाहर ही कही आया था |*****बडी से बडी नायिका भी अपना नाम किसी हीरो के साथ जोडना पसन्द नहीं करती थी | "(धर्मयुग-11 दिस*1988पृ* 18) "पैसा कमाने की धुन में आज निर्माता,निर्देशक अभिनेता-अभिनेत्री सभी अपना सब कुछ ताक पर रखने की स्थिति में हैं |"(सिनेमा और साहित्य-डॉ हरीश कुमार-पृ*33)

यहाँ मैं 1982 में आई 'अर्थ' की कुछ चर्चा करना चाहती हूँ |1982 में बनी 'अर्थ'ने स्त्री-सिनेमा को नए आयाम दिए | स्त्री की स्वाधीन चेतना का बहुत ही सुन्दर विकास इस कहानी में दर्शाया गया है | इसमें स्त्री हमेशा, पुरुष के साथ किसी लतिका सी पल्लावित होना चाहती है | पति के द्वारा भावात्मक,मानसिक,सामाजिक,पारिवारिक सभी सीमाओं का अतिक्रमण किए जाने के पर भी पत्नी, एक बार फ़िर से उसके पुरुषोचित अहं को सहेजती हुई तमाम विकृत परिस्थितियों के बावजूद उसे मनाने का प्रायास करती हुई बिना अपनी किसी गलती के भी उससे क्षमा याचना करती है | .....उससे सब कुछ भुलाकर नयी जिन्दगी शुरु करने की गुज़ारिश करती है | मगर वह स्पष्ट शब्दों में इनकार करते हुए उससे अपना पिण्ड छुडा लेता है | .....इसी के साथ उसके जीवन में पितृसत्ता के नियंत्रण की सभी बेडियाँ टूटने लगती है | वह सभी श्रृंखलाओं से

आजाद होकर अपनी स्वाधीन-स्वतन्त्र सोच और अटूट आत्मविश्वास के साथ अपने जीवन को एक नयी दिशा देती है | इस फ़िल्म में भारतीय स्त्री का अपना वैशिष्टय नजर आता है.....नायिका अपने घर-संसार को लूटने वाली कविता को न केवल भुला देती है बल्कि उसे क्षमा करते हुए उसकी मानसिक बीमारी का इलाज भी करते हुए उसे अपराध बोध से मुक्त कर देती है | उधर कविता के वापिस चले जाने ले लिए बाध्य करने पर इन्दर लौट कर जब उसके पास आना चाहता है तो वह उससे सवाल करती है,क्या मैं भी ऐसे ही तुम्हारे पास लौटना चाहती तो तुम मुझे स्वीकार करते ? और जब वो इनकार कर देता है तो वह इतना ही कहती है,गुडबाय इन्दर !आज भी स्त्री के द्वारा अपनी अस्मिता की प्रातिष्ठापना के लिए ऐसे स्वा-सम्मान और आत्माविश्वास की अनिवार्या आवश्याकता है | कहानी यहीं खत्मा नहीं होती | विपरीत परिस्थितियों के बीच जिस पुरुष मित्रा ने उसे टूट्ने-बिखरने से बचाया था, वह अन्तिम दृश्या में उसके प्राति संपूर्णा संवेदनशीलता और कृतज्ञाता के बावजूद 'मल्होत्रा' का पुछल्ला हटने के बाद, अब केवल और केवल 'पूजा' बनकर ही रहना चाहती है | क्योंकि किसी भी तरह का सहारा अब उसे पंगु बना देगा, इसी डर से वो अपने उस मित्रा से भी एक सम्मानजनक दूरी बना लेना चाहती है |

भारतीय अशिक्षित ग्रामीण नारी तक भी आवश्यकता पडने पर किसी से कम नहीं | 1984 में बनी केतन मेहता की"मिर्च-मसाला"-फ़िल्म में यह बखूबी प्रस्तुत किया गया है | इस फ़िल्म में पूरे गाँव की अनपढ महिलाएँ मिलकर अपनी जैसी एक अकेली महिला का सहारा बनकर सत्ता और शक्ति के आतंक के खिलाफ़ एकजुट होती हैं | सत्ता की ताकत का सामना करने के लिए अपने हौंसले के अलावा उनका कोई हथियार नहीं | उनका यही जज्बा,रसोईघर में सामान्य सी मसाले के रुप में वर्षो से प्रयुक्त चीज,'मिर्च 'को ही अपना हथियार बनाकर, अपनी ताकत बना डालती है | क्योंकि सत्ता की नाजायज माँग पूरी करने के लिए नायिका तैयार न थी और पूरे गाँव की स्त्रियाँ मिलकर उसका साथ देती हैं |

नारीवाद को सभी देशों में अलग-अलग रुप में समझा गया है | होना भी चाहिए,हर देश और स्थान की प्रकृति और परिवेश के अनुसार स्थितियाँ भी बदलती हैं | यथार्थ के नाम पर भी कहीं-कहीं अति का बोलबाला देखा जा सकता है | आज तो एल* पी* जी* माने लिबरलाइज़ेशन (उदारीकरण) ,प्राइवेटाइज़ेशन (निजीकरण) और ग्लोबलाइज़ेशन (भूमण्डलीकरण) की हवा ने पूरे परिदृश्य में खासा बदलाव ला छोडा है | लगभग 90 के दशक से ये परिवर्तान जीवन के हर क्षेत्रा में देखा जा सकता है | 1993 में आई 'दामिनी' ,1994 बेंडिट क्वीन जैसी फ़िल्मों से स्त्री के एक सर्वाथा नवीन रुप को देखा जा सकता है | जहाँ स्त्री ने तमाम पारंपरिक बेडियों को उतार फ़ेंका है और अपनी अन्तारात्मा की आवाज के साथ सत्या और न्याय का साथ दिया है फ़िर चाहे उसके प्रातिरोध में उसका अपना परिवार,समाज या पूरी कायनात ही इकठ्ठी क्यों न हो गई हो !!! दामिनी एक ऐसी ही महिला थी जिसने अपनी नौकरानी को न्याय दिलाने के लिए अपने समृद्ध और शक्तिशाली परिवार का विरोध भी सहा | उसे मानसिक रुप से रुग्णा घोषित कर पागल भेज दिया जाता है | फ़िर

भी वह हार नहीं मानती और अन्ता तक लडाई लडकर उस गरीब को मरने के बाद ही सही न्याय दिलाती है |

क्षेत्रीय सिनेमा की दृष्टि से अगर हम मळयालम सिनेमा 'परिणयम'की तुलना करते हैं तो हम देखते हैं कि स्त्री के हिमालयी व्याक्तित्वा के समक्षा डरपोक कापुरुष का नंपुसक स्वारुप कितना छोटा लगता है | नपुंसक समाज से लोहा लेती नारी के अडिग रुप की कहानी है | **[ksrksa dh ixMf.M;ksa ij uVuh lh nkSM+rh fQjrh ,d ,slh ukf;dk gS] ftldk cpiu vHkh iwjh rjg ls NksM+dj ugha x;k Fkk] exj cw<+s uEcwnjh ---------- dh pkSFkh ifRu cudj og Hkh etcwju xkaHkh;Z vkSj cqtqxhZ;r vks<+ ysrh gSA pwafd lkekftd ijEijkvksa fof/k fu"ks/k dh vfuok;Zrk fu;ekofy;ksa ds pyrs L=h dks la;e dh lyhc <ksuh iM+rh gSA ,d vkys[k esa fefgj ik.M~;k us xsaXl vkWQ oklsiqj ds lEcU/k esa esfjVy jsi ds ;kfu fookg ds Hkhrj cykRdkj dk izlax mBkrs gq, ;g dgk fd ^^fgUnh flusek dc vius uk;d fdjnkjksa dks ,sls vlgt djus okys izlax nsrk gS] ;s fQYe dLckrh 'kknh'kqnk L=h dh fodYighurk dks fn[kkrh gS] tgka mlds ikl cykRdkj dk f'kdkj gksus ;k nwljh L=h ds ikl ifr dks 'kjhj lq[k ds fy, tkrs ns[kus ds vykok vkSj dksbZ rhljk fodYi ughaA**[1] ifj.k; esa Hkh L=h thou dk ;gh dVq lR; n'kkZ;k x;k gSA lqgkxjkr dk n`';kadu Hkh dqN blh nnZ dks fpf=r djrk gSA dqN gh le; esa ok/kZD; jksx ls xzLr rEcwjku dk LoxZokl gks tkrk gSA ukf;dk oS/kO; >syus ds fy;s vfHk'kIr gSA pkjnhokjh esa dSn ,dkUrokl dh ltk Hkqxrrh gqbZ ukf;dk dks mlds fo:) ifr ds iq= dqatm..kh] tks viuh le>nkjh vkSj vU;k; dk fojks/k djus ds LoHkko ds pyrs ,d l'kDr ik= gSA dqatm..kh uEcwnfj;ksa ds lq/kkj vkUnksyu ls tqM+k FkkA iwjh lekt esa og ,d fonzksgh O;fDrRo ds :i esa tkuk tkrk FkkA**

?kj ds yksxksa ds mis{kkiw.kZ O;ogkj ds pyrs ek/kou ls fey jgh Lusg dh Qqgkjksa dk og frjLdkj ugha dj ikrhA dFkdyh urZd ek/kou ds }kjk mls vkf/kdkfjd fonq"kh ekudj vDlj lykg ysuk mls Hkkrk gSA /khjs&/khjs ek/kou dk Lusg vkSj lkSgknzZiw.kZ O;ogkj mls mlds izfr vkdf"kZr djrk gSAवह उसके बच्चे की माँ बन जाती है | मगर ek/kou dk dk;jiu ukf;dk dks Hkhrj ls rksM+ nsrk gSA va/ksjh jkr esa Nqidj vk;s ek/kou dh foo'krk ls og mls vHk;nku ns Mkyrh gSA ^^fdlh dh ftUnxh cckZn dj eq>s D;k feysxk] ;fn rqe pkgrs gks uk fd eSa rqEgkjk uke uk ywa] Bhd gS] tkvks fudy tkvks ;gka lsA tc ml ij vR;kpkj fd;s tkrs gSa rks lkgl tqVkdj ukjh dk /keZ ds Bsdsnkjksa dh T;knfr;ksa ds ckotwn muls 'kkL=kFkZ djrh gS & ^^eSa vc Hkh dgrh gwa fd eSaus xyrh ugha dhA** nykyksa dk dguk Fkk D;k ;g xyrh ugha fd rqe eka cuh gks] mldk tokc Fkk] ^ugha*A L=h dk eka cuuk] larku dks tUe nsuk iki ugha] vkSj vxj ;s xyrh gS rks ;s L=h dh xyrh ugha] bZ'oj dh xyrh gS fd mlus ekr`Ro dk nkf;Ro L=h dks lkSaikA ,sls esa mudh nyhy Fkh fd fo/kok,a eka ugha curhA**

uk;d ds ykSVus dh ifj.kfr ls og dqN gn rd dke;kc Hkh gksrh gS] exj mldk edln {kf.kd lq[kh thou ugha FkkA la?k"kZ gh mldk thou Fkk] rHkh og mls ykSVk nsrh gS vkSj thou Hkj xka/khth ds pj[ks ds lkFk lwr dkrdj viuk thou Hkh jprh cqurh gSA

;g lp gS fd izse dk vk/kkj ikdj L=h esa Hkh vkewypwy ifjorZu gks tkrk gS] ysfdu vius lEcy dks fytfytk vkSj csisans dk ikdj L=h vius eu dks dNq, dh rjg [kqn gh esa lesV ysrh gSA ,sls esa mlds Lo;a ds Hkhrj dk vnE; lkgl mlds

O;fDrRo dks ml fojkV~ dk lk rstkse; izdk'k iqat cuk Mkyrk gSA mls fdlh lgkjs dh njdkj ugha jg tkrhA ftUnxh dks bUnz/kuq"kh; jaxksa ls ltkus okyk mldk egkuk;d gh tc dk;j cu tkrk gS rks og mls Hkh nqRdkj nsrh gSA t:jr Fkh tc lEcy dh] rqe uiqald gks x;s] pkgk Fkk ,d egkuk;d dks] exj rqe dkiq:"k fudysA

1996 में हिन्दी में बनी 'प्रेम-ग्रंथ'-में नायिका माधुरी एक सशक्त चरित्र के रुप में दर्शकों के सामने आई है,मगर इसमें एक माँ के रुप में नायक की माता भी कहीं कमजोर नहीं पडती | अपने पति द्वारा रोके जाने पर वह कहती है, "आप चिन्ता मत कीजिए मैं आपको छोडकर नहीं जा रही | औरत का स्वभाव होता है कि वह हमेशा कमज़ोर का साथ देती है ,इस समय आप ही मुझे कमजोर नज़र आ रहे हैं |" हिन्दी फ़िल्मों में आज के तथाकथित स्त्री विमर्श की बानगी भी देखी जा सकती है | जहाँ पितृसत्ता को चुनौती देती हुई स्त्री ने अपनी दैहिक आवश्यकता को तवज्जो दी है |1998 में बनी दीपा मेहता की 'फ़ायर' फ़िल्म इसका उदाहरण है | पुरुष समाज के अन्तर्विरोधों का सामना करती हुई दो स्त्रियाँ यहाँ अपने स्वत्व का विचार करती है | उस सत्ता की तथाकथित नैतिकता और मर्यादा को धत्ता बता कर जब वो अपनी जरुरतों को पूरा करती हैं, तो पौरुष का अहंकार उसे स्वीकार नहीं कर पाता | यह फ़िल्म हमारे समाज के पाखण्ड और सच का सामना न कर पाने की कमजोरी का उपहास करती हुई सी प्रतीत होती है | पुरुष की दृष्टि शायद स्त्री मन की उस पीडा को समझ नहीं पाती जिसे दीपा मेहता ने साहसी निर्देशिका और लेखिका होने के नाते फ़ायर में चित्रित किया है | अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान प्राप्त इस फ़िल्म पर इस्मत चुगताई की 'लिहाफ़' के प्रभाव को भी देखा जाता है | इस नाते यह मुख्यधारा की पहली फ़िल्म है जो नारी को केवल विश्वास रजत पग तल में 'पीयूष स्रोत'सी बहने वाली 'श्रद्धा' कहकर जीवन के सुन्दर समतल में विचरण करते हुए ही नहीं देखना चाहती है बल्कि उसे कम्फ़र्ट ज़ोन से बाहर आकर जीवन के संघर्षो से दो-दो हाथ करने के लिए भी प्रेरित करती है | यद्यपि हमारे राजनैतिक आन्दोलनकारियों के यह गले नहीं उतर पाई- If women's physical needs are fulfilled through lesbian acts,the institution of marriage will collapse and reproduction of human beings will stop ."(A statement by extreme right wing, Shiv sena movement)

यह फ़िल्म पितृसत्ता के द्वारा स्त्री-सेक्स के नियंत्रण और नकार को नियंत्रित करने वाली है | यह स्त्री को बोलने की स्वतन्त्रता सिखाती है | जहाँ स्त्री को बच्चे पैदा करने की मशीन भर न मानकर उसकी निजी व्यक्तित्व की आवश्यकता को तवज्जों दी गई है | यह भी विशेष ध्यातव्य है कि स्त्री का ये रुपान्तरण आरोपित न होकर समय, परिस्थिति और विकृत मानसिकता वाले माहौल का स्वत: प्रस्फ़ुटित परिणाम था | सेक्स उन दोनों महिलाओं की कमज़ोरी भरी अनिवार्य आवश्यकता कतई नहीं थी | अपनी 'डेड ऐण्ड मैरिएज' और संवेदनहीन असम्माननीय जीवन यात्रा की घुटन से घबराकर,जैसे वे दोनों अपनी अस्मिता की संरक्षा के लिए इस राह पर चल पडती हैं .....बल्कि यहाँ तो मै कहना चाहूँगी कि जैसे विकृत पारिवारिक परिस्थितियों के षडयन्त्र ने ही उन्हें इस ओर धकेला था | अपने पति की नपुंसकता और यौन अयोग्याता को चुपचाप

सहती,बल्कि कहूँ कि घुटती हुई राधा और पति के किसी और के प्रेम में उलझकर उसकी निरन्तार उपेक्षा को सहती सीता अपनी यौनेच्छाओं को दबाए मौन मूक भावेन घर भर की सेवा-चाकरी में रत थीं | मगर अपनी अस्मिता की खोज, सिम्पैथी>एमपैथी>केयर>लव>से होती हुई आध्यात्मिक एकात्मक भाव के साथ उनके बीच ये लौकिक जुडाव भी रच डालता है | दीपा मेहता ने अपने एक इन्टरव्यू में यही खुलासा किया था, ''लेस्बियनइज्म इस फ़िल्म का एक पक्ष मात्र है | किन्तु यह फ़िल्म सिर्फ़ 'लेस्बियनइज्म की ही नहीं है | ये तो स्त्री द्वारा अन्य विकल्प की खोज की फ़िल्म है |'सदियों से थोपी गई मर्यादा और तथाकथित नैतिकता की बेडियाँ तोडकर, स्त्री के द्वारा उस जीवन की तलाश का प्रयास है जो सम्मान और स्नेह से भरा हो ! स्त्री के सेल्फ़ फ़ुलफ़िलमेन्ट' की कोशिश भर है ये फ़िल्म | इसी अवसर पर दीपा ने कहा था, 'I am not a feminist who downgrades men,I think men are as important as women.'

अस्तित्व(2000),लज्जा(2001),चाँदनी बार(2001), 2003 की 'मातृभूमि'-a nation without woman, 2007-चक दे इण्डिया,2009 में बनी 'दिल बोले हडिप्पा', 2012 कहानी, 2012 की ही इंगलिश-विंग्लिश',2013 क्वीन',2014 की सुपरनानी' और 'रिवाल्वार रानी' जैसी फ़िल्में समाज को झकझोर सके, सही दिशा दे सके तो इसकी सार्थकता स्वत: सिद्ध हो जाएगी | ये फ़िल्में आम स्त्री को स्वाधीन चेतना के साथ जीवन व्यापन की दृष्टि देती हैं,उन्हें परिस्थितियों से लडने की ताकत देती हैं,अगर ये जिन्दगी की जद्दोजहद में जूझना सिखाती हैं तो ये सार्थक और सफ़ल हैं |

नारी की स्थिति में सुधार के लिए समाज की मानसिकता बदलने की ज़रुरत है | सामाजिक समरसता को मटियामेट करने वाला नारीवाद हमारे परिवेश के लिए नहीं | हमें पुरुष संप्रभुता से कुछ शिकायतें तो जरुर है, मगर पुरुष-समाज से सामूहिक संघर्ष करके इसका उन्मूलन नहीं हो सकता | बैट्टी फ़्रीडन ने भी इसका समर्थन किया है,''नारी-मुक्ति आन्दोलन में यौन-राजनीति बहुत हो चुकी |********यद्यपि कुछ पुरुष शत्रु हो सकते हैं मगर अन्य हमारे संभावित मित्र है |'' फ़िल्म 'इंगलिश-विंग्लिश' में, अमरीका में जब नायिका की भाँजी उसे कहती है,''मासी आप सिर्फ़ लड्डू बनाने के लिए इस दुनिया में नहीं आई हो -'तो उसके भीतर कुछ मन्थन की प्रक्रिया शुरु हो जाती है, विमर्श के बाद वह अपने भीतर की ताकत को समझने लगती है ..... इसी के साथ नायिका को

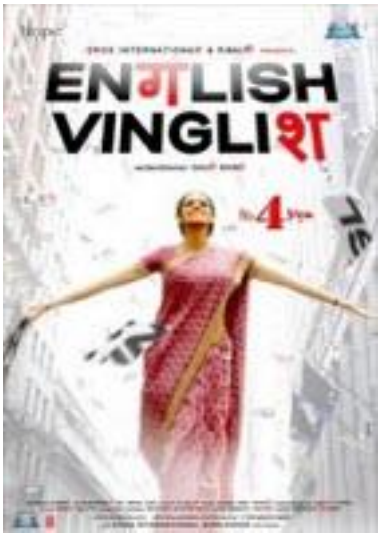

अपनी सार्थकता की राह मिल जाती है |

ऐसी ही एक और फ़िल्म थी 'सुपर नानी' | परिवार के सदस्यों द्वारा जब उसकी खूबियों का मजाक बनाते हुए उसे नीचा दिखाया जाता है तो उस तिरस्कार से उसकी खुद्दारी जाग उठती है और सदियो से जिन सद्गुणों को नारी के साथ जोडकर देखा जा रहा था ऐसे प्रसाद के द्या,माया,ममता,मधुरिमा,,अगाध विश्वास,त्याग,समर्पण जैसे गुण आज पोटली बाँधकर सुरक्षित लॉकर में सहेज देती है | हालांकि इसका एक दुष्पारिणाम भी सामने आने लगा है | पाश्चात्य नारी की ही तरह भारतीय नारी भी अब 'साधु-सर्वम' की गिनती में आ रहे सभी सदगुणो की ठेकेदारी लेने से कतरा रही है | उसने भी अब उनके संरक्षण के दायित्व से खुद को बचाने की कवायद शुरु कर ली है पुरुष की ही तरह नारी भी प्रैक्टिकल होकर अब घर-बाहर की दोहरी-तिहरी भूमिकाएँ बखूबी निभा रही हैं | मगर इससे फ़ायदा यह हुआ है कि नारी के भीतर सदियों से ठूँसा जाता रहा अहसासे-कमतरी का अब सफ़ाया हो चला है | इसका सकारात्मक प्रभाव यह भी है कि आज की नारी ने शिक्षा-स्वावलम्बन और अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठापना का मूल-मंत्र ह्रदयंगम कर लिया है | बिना किसी ग्लैमर या टशन के सीधी-सादी छोटे से कस्बे की लडकी ने कैसे अपनी हार को भी जीत में बदल डाला है, क्वीन' उसी की कथा कहती है | राजौरी के एक छोटे सी जगह से निकलकर वह अपना गम भुलाने की कवायद में होने वाले पति के द्वारा ठुकराकर शादी तोडे जाने पर पर वह अकेले ही

हनीमून के लिए लन्दन निकल पडती है | यह फ़िल्म साबित करती है कि कोई भी स्त्री अगर चाहे तो हर डगर पर 'एकला चालो''मंत्र के सहारे अकेले ही हर मोर्चे पर खरी उतर सकती है |

''अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति''-के आलोक में जब साहित्य-सर्जक को देखा जाता है तो इस ऋषिकर्म की जिम्मेदारी भी बढ जाती है | सृष्टि के निर्माता ब्रह्मा जी के बराबर का ओहदा पाकर भी अगर रचनाकार अपने स्वार्थ साधन के लिए ओछी राजनीति के रणक्षेत्र में उतरता है तो उसकी बीमारी लाइलाज ही है | जिस सृजन के लिए यह अपरिहार्य माना जाता है कि वह अपनी सौन्दर्य चेतना के साथ मानवीयता की सदा-सर्वदा रक्षा में संलग्न रहता है,उसी को भौतिक जगत में दुनिया के साक्षात्कार के लिए उपलब्ध करवाने वाला सर्जक ही जब अनैतिक होकर मानवीयता की जडें काटने पर आमादा हो जाए तो इस दुनिया का क्या हश्र होगा,यह कहने-सुनने की बात ही नहीं | आज हर चीज की ही तरह सिनेमा भी बाजार के दबाव से अछूता नहीं | ख्वाजा अहमद अब्बास के सामाजिक सरोकार से शुरु हुआ सिनेमा भी इस खेल-व्यौपार में शामिल हो चला हैं विज्ञापन, प्रोपेगण्डा,ग्लैमर,दिखावा,दौलत से जुडा हर तमाशा सिने-संसार में भी घुसपैठ कर चुका है | फ़िर फ़िल्मकार को हम इससे नितान्त अछूता तो नहीं मान सकते हैं | मगर फ़िर भी यह अवश्य कहना चाहूँगी कि अच्छा सर्जक आज भी समाज में सबसे शीर्ष पांयदान पर है,उसे अपने प्रति समाज के इस विश्वास और निष्ठा की लाज अवश्य ही रखनी चाहिए | अच्छे फ़िल्म निर्माताओं की तरह साधना की राह पर चलने वाले को क्षुद्र मानसिकता और तुच्छ स्वार्थपरक उठा-पटक की आग से

अपना रेशमी दामन बचाकर,दूर ही रहना चाहिए | अन्यथा बहुत समय न लेकर यह आग क्षणांश में ही जलाकर सब कुछ खाक कर देगी | रचनाकार को सकारात्मकता की दिशा में ही कदम बढाना चाहिए ,चाहे व्यावहारिक तौर पर हो या वैचारिक स्तर पर सर्जक की सकारात्मक दृष्टि ही उसे हर चुनौती के समाधान की ताकत देती है | कथा सम्राट प्रेमचन्द के अनुसार''साहित्य एक मशाल है |'' यहाँ मैं कहना चाहूँगी कि सिनेमा न सिर्फ़ मशाल है बल्कि वह बन्दरगाहों पर जलते हुए आकाशदीप की तरह भटके हुओं को राह दिखाने वाला प्रकाश पुंज है | सिनेमा हरेक को प्रभावित करने की ताकत रखता है | अगर सर्जक स्वयं ही दिग्भ्रमित होगा तो फ़िर वह समाज और सृष्टि को क्या राह दिखाएगा | यहाँ सर्जक से आशय हर प्रकार की सर्जना से जुडे रचनाकार-फ़िल्मकार से है | यही नही, लिंग-भेद से परे नारी-पुरुष सृजनकर्त्ता दोनों ही बराबर है | बीते दौर लगभग 1926 की, पहली फ़िल्म निर्देशिका और अदाकार फ़ातिमा बेग़म हो या 1931 में 'मिस कमला'फ़िल्म की निर्माता निर्देशिका और संपादिका दक्षिण भारत की राजलक्ष्मी हो या 1938 में बनी कंगन' की संगीत निर्देशिका-सरस्वती देवी हो,या फ़िर 1974 में 20 वर्षो के अन्तराल के बाद फ़िल्म निर्देशन में उतरी साधना हो सभी ने अपने दायित्व का बखूबी निर्वहन किया | तब से लगातार आ रही महिला निर्देशिकाओं में एक ओर सई परांजपे,जिनके खाते में 'स्पर्श',कथा, चश्मे बद्दूर',सुई जैसी 18 फ़िल्मे है तो दूसरी ओर अरुणा राजे (गहराई), अपर्णा सेन (36 चौरंगी लेन),मीरा नायर (सलाम बॉम्बे),दीपा मेहता (फ़ायर,वाटर) और गुरिन्दर चड्डा (भाजी ऑन दी बीच), कल्पना लाज़मी (रुदाली), रेवती (फ़िर मिलेंगे) ज़ोया अख्तर (जिन्दगी न मिलेगी दोबारा),किरण राव (धोबी घाट), अनुशा रिज़वी (पीपली लाइफ़)या फ़रहा खान जैसी निर्देशिकाएँ है,जो अपनी रचनात्मकता और पारखी नजर से सफ़ल निर्देशिका के रुप में इस व्यावसायिक और सार्थक सिनेमा के बाजार में स्थापित हुई हैं | 'सलाम बोम्बे' में मीरा नायर के सामाजिक सरोकार को सत्यजीत राय के 'पाथेर पाँचाली' से भी श्रेष्ठ सिद्ध करने वाले आलोचकों का तर्का है कि 'राय ने खुद स्वीकार किया था कि मैं खुद व्यक्तिवादी हूँ''यही नहीं वे अपनी फ़िल्म मे कला को ही सदैव प्राथमिकता देते हैं |' इस फ़िल्म की कुछ विशिष्ट खूबियों की वजह से इसे हिन्दी की प्रतिवर्ष बनने वालू सैंकडों की भीड में विशिष्ट स्थान पर देखा जाता है (सिनेमा और साहित्य-पृ*36)

पिछले दिनों कहानी की पटकथा लेखिका ,अद्वैता काला के एक आलेख में लिखे उनके विचारों से मैं सहमत नहीं | उनकी टिप्पणी थी कि,''ब्रिक देशों में भारत ही ऐसा देश है कि जहाँ श्रम बल में महिलाओं की भागीदारी सबसे कम है | भारत के नेशनल सैंपल सर्वे,2011 के अनुसार 15 दशमलव 4 फ़ीसदी शहरी महिलाएँ ही काम करती हैं |'' ऐसे में महगें मल्टीप्लेक्स की टिकटें खरीदकर कितनी महिलाएं फ़िल्म देखने पहुचती है ? जब पुरुष ही ज्यादा सिनेमा देखने पहुचते हैं तो फ़िर फ़िल्म उन्हीं को ध्यान में रखकर ही बनाई जाएगी |'' वैसे एक खासियत जो वर्ष 2014 की रही है वह यही है कि महिला केन्द्रित फ़िल्में जनता-जनार्दन द्वारा तहे दिल से स्वीकार की गई हैं | क्वीन',मर्दानी','मैरी कॉम','गुलाब गैंग' ,सुपर-नानी'जैसी फ़िल्में हमें आश्वस्त करती है कि समाज में आधी आबादी की ताकत को अन्देखा नही किया जा रहा | आज

औरत सिर्फ़ ''मस्त-मस्त चीज न रहकर हाड-माँस की इन्सान है जो अपनी अस्मिता के प्रति जागरुक भी है | एक जगह अद्वैता जी ने स्वयं अपनी फ़िल्म 'कहानी' के हवाले से कहा था , '' कि इसे सिनेमाघरों तक पहुँचाना चुनौती था,क्योंकि न सिर्फ़ इसके फ़ोकस में एक महिला थी बल्कि वह गर्भवती भी थी | फ़िल्म में न तो उत्तेजना का कोई तत्व था और न अंग-प्रदर्शन, जिसके सहारे फ़िल्म की मार्केटिंग की जाए |''(22 अक्टूबर2014 दैनिक भास्कर)..... फ़िर भी फ़िल्म अच्छी रही .....तो क्या समझा जाए ? हम जो अब तक जो तर्क सुनते चले आए हैं कि दर्शकों की माँग पर ही तो वल्गर फ़िल्में या अश्लील गीत बनाए जाते हैं | मुझे नही लगता कि इस तर्क में कोई दम बचा है ! आज मैरीकॉम',चक दे इण्डिया',कहानी',दामिनी'लज्जा',भूमिका',अर्थ' जैसी अनेक फ़िल्में इन फ़ुसफ़ुसे तर्को की बैंड बखूबी बजा रहे हैं | ऐसे में इस तरीके की बाँते,सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने दायित्वों से बचने का बहाना भर ही है | 'चक दे इण्डिया'को अगर स्टारडम की नजर से तौले तो शाहरुख के अलावा कोई आकर्षण नहीं था | मैं तो कहूँगी कि उसमें शाहरुख खान की जगह कोई और सामान्य सा कलाकार भी होता तो भी फ़िल्म इतनी ही शानदार होती जितनी कि अब बन पडी है | उसमें न कोई ग्लैमर था ना ही कोई आइटम सॉग ही था | कोई असामान्य लुभावन न होने के बावजूद भी फ़िल्म असाधारण ही रही |

नारी संचेतना के लिए प्रयासरत तमाम फ़िल्मों में 'दिल बोले हडिप्पा' ,'मैरी कॉम','क्वीन','हाइवे','बॉबी-जासूस', चक दे इण्डिया', ','लुटेरा','कहानी','इंग्लिश-विंग्लिश' 'गुलाब-गैंग' जैसी आज की फ़िल्में ही नहीं, बल्कि पुरानी फ़िल्में 'अछूत कन्या','सुजाता',चित्रलेखा',तीसरी कसम', 'अंकुर', 'निशान्त','गरम हवा','भूमिका',बाजार',नदिया के पार', बैंडिट क्वीन',रुदाली',ओमकारा', चाँदनी बार',पेज़ थ्री', फ़ैशन', हिरोइन',वाटर', मातृभूमि', लज्जा', पिंजर',डोर',मण्डी',फ़ैशन','डर्टी पिक्चर'आदि भी उल्लेखनीय रही है | नारी को अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठापना के लिए घर से लेकर बाहर तक हर मोर्चे पर जूझना पडता है | हिन्दी सिनेमा के सफ़र की शुरुआत से 'मर्दानी' तक का सफ़र नारी-चेतना की अनूठी मिसाल पेश करता है | निर्देशक प्रदीप सरकार की मर्दानी' फ़िल्म ह्युमन ट्रेफ़िकिंग से सम्बद्ध स्त्री-विमर्श पर केन्द्रित शानदार फ़िल्म है | इसकी नायिका का डायलॉग है-''जिस दुनिया में माँ-बहने रिश्ते नहीं गाली है उस दुनिया से मर्यादा के रिश्ते सारे तोडूँगी | ''गुलाब गैंग' फ़िल्म में नायिका अपने आत्मविश्वास को संक्रामक रोग की तरह सबमें फ़ैलाती है -

जैसे तिल मे तेल है ज्यों चकमक में आग ,तेरा सांई तुझ में है,जाग सके तो जाग

5 बार वर्ल्ड चैम्पिअन रही 'मैरी-कॉम'की बायोपिक में नायिका को बचपन से ही अपने जन्मदाता तक से भेदभाव भरा व्यवहार झेलना पडता है | मैरी कॉम के हाथों में बॉक्सिंग ग्लवस देख कर पिताजी उसकी पिटाई कर डालते हैं और ये चेतावनी दी जाती है कि ये लडकी लोग का खिलौना नहीं | जब वह नहीं मानती तो उसके ग्लवस छीनकर आग की भेंट चढा दिए जाते हैं | मगर वह स्वयं कभी नहीं हारती | पिता और बॉक्सिंग में से बॉक्सिंग को चुनती है | जब प्रतिद्व्न्द्वी कहता है मै लडकी से नही लडता तो तपाक से पूछती है,''क्यों डरता है क्या ? इस फ़िल्म में मैरीकॉम के कोच ने बहुत

बडी बात कही- औरत माँ बनकर और भी स्टाँग हो जाता है | 'क्योंकि वह प्रसव के बाद बॉक्सिंग छोडने की सोचने लगती है | मैरीकॉम जीवन भर अपना स्थान बनाने के लिए जद्दोजहद करने वाली जीवट वाली स्त्री की प्रतीक है | तभी तो सदा-सर्वदा संघर्ष करती हुई वह कहती है-कभी किसी को इतना भी मत डराओ कि डर ही खत्म हो जाए |"

नारी को अपने जीवन की सार्थकता हासिल करनी है तो उसे यह समझना होगा कि उसे पुरुष से प्रतिस्पर्धा छोडकर खुद को खडा करने और स्थापित करने के लिए अपनी नयी जगह बनानी होगी | नारी को यह साबित करना होगा कि उसके जीवन का कोई और बडा ध्येय है | उसके पास भौतिक जगत की शतरंजी चालबाजियों के लिए व्यर्थ समय नहीं | ब्रह्मा की भाँति सृजन और विष्णु की तरह पालन करने की क्षमता जिसके समक्ष है वह स्त्री कभी कमजोर तो हो ही नहीं सकती | जीवन को आनन्द से सराबोर करने की ताकत सिर्फ़ और सिर्फ़ नारी के पास है | अगर वह नकारात्मक या विध्वसात्मक कार्यों में अपना समय और क्षमता व्यर्थ गवाँएगी तो नुकसान उसका तो होगा ही साथ ही उसकी सृष्टि भी उससे प्रभावित होगी | पुरुष से बराबरी की लडाई में वह हासिल तो कुछ नहीं करेगी,क्योंकि उसकी हार तो उसे कुंठित करेगी ही,जीतकर भी वह कभी खुश न रह पाएगी .....यही स्त्री का मूल स्वभाव है | उसे अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाकर सब कुछ खोना ही पडेगा | इसीलिए नारी को अपने श्रेष्ठत्व को साबित करने की जद्दोजहद करनी ही होगी |

यूँ तो नारी को वस्तु के रुप में तौले जाने की परंपरा काफ़ी समय से चली आ रही है | आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी साहित्य का इतिहास उठा कर देख लीजिए हमेशा नारी को एक आकर्षक चीज माना गया है | जब नारी को अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए खूबसूरत होने की शर्त अनिवार्यत: पूरी करनी ही होती थी ,मगर विडम्बना तो यही है कि आज भी हर क्षेत्र में पुरुष से कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हुए भी नारी खुद भी अपने आप को इस दौड से बाहर निकाल कर प्रतिष्ठित नहीं कर पा रही | इसके पीछे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के अभाव की कोई मजबूरी या सरवाइवल की कहानी नहीं है | इसमें जितना दोष पुरुष या समाज का है उससे कहीं ज्यादा स्वयं नारी दोषी है | आज सुन्दरता की शर्त नारी की जिन्दगी की अनिवार्यता या मजबूरी तो नहीं रही | मगर स्वयं नारी की मानसिकता में बदलाव न होने की वजह से और सुंदरता के प्रति उसके स्वाभाविक आग्रह ने उसे आज भी 'वस्तु' ही बना रखा है | मैं सुंदरता का विरोध नहीं करना चाहती मगर नारी-सौन्दर्य और देह-गणित के इर्द-गिर्द बुने जाने वाले षडयन्त्रों का विरोध करती हूँ | आकर्षक व्यक्तित्व और स्वस्थ शरीर सबके जीवन के लिए परम आवश्यक है | उसमें नारी-पुरुष का विभेद क्यों हो ? दूसरी शिकायत यह है कि आज भी तमाम शिक्षा और ज्ञान की डुगडुगी बजने के बावजूद नारी का गोरा रंग या जीरो फ़िगर ही उसकी काबलियत का प्रमाण माना जाता है | सांवली या काली महिला किसी भी प्रकार से प्रशंसनीय नही होती | इस उपभोक्तावादी समाज के दबाव में नारी सर्व प्रकारेण समर्थ होने के बावजूद सामन्ती आशाओं और अपेक्षाओं से संचालित होती है | वह खुद भी इस दुधारी तलवार पर चलना अपनी सार्थकता समझती है | जब नारी हर तरह से पुरुष के समकक्ष

उसके बराबर सक्रिय है तो फ़िर उसे सामन्ती सोच की इस कसौटी को नकारना ही होगा | अन्यथा तमाम उपलब्धियो के बावजूद समाज वस्तु के रुप में ही उसका आकलन करता रहेगा- उसकी बुद्धि-कौशल या क्षमताओ का नही, उसके बाह्य सौन्दर्य या गोरी चमडी की प्राथमिकता से ही उसकी पहचान बनती रहेगी | नारी को स्वयं ही इसके लिए कोशिशे करनी होगी |

आने वाले कल की आहट सुनाती आज कुछेक फ़िल्में नारी के द्वारा धीमे-धीमे पुरुष के ही रास्ते को अख्तियार करनी की कथा है | कहीं-कहीं बदलते वक्त के साथ औरत भी 'बदला',शोषण',या हिंसा को अपनाने लगी है | कुछ भी हो सिनेमा हमारे समाज का ही आईना है | जैसा कि 'रिवाल्वर-रानी' में दर्शाया गया है | *''रिवाल्वर-रानी''एक कोमलांगी के परुष बनने की कथा है | उसका स्त्रीत्व परिस्थितियों की भेंट चढ्कर पूरी तरह रुपान्तरित हो जाता है | वह पौरुष के नाम पर समाज में प्रचलित तमाम बुराईयों को अंगीकार कर लेती है | और तो और उसका एक पुरुष से स्थापित सेक्सुअल रिलेशन भी परुषता ओढे हुए है | 'आई लव,फ़ैशन-फ़न और गन' कहने वाली अलका सिंह उस पुरुष की मजबूरी का फ़ायदा उठा कर उसे 'रखैल' की तरह बन्दी रुप में रखती है | उसका इस कदर आतंक है कि वह, दिमाग भन्ना गयो न तो; छ; की छ: खोपडी मे उतारने की धमकी देती है |' इस फ़िल्म में स्त्री पुरुष की नकल कर शारीरिक तौर पर ताकतवर तो नहीं बनी

बल्कि ऐसे में वह ''अपनी भी चाल भूल कर घर की रही न घाट की''|

ऐसी ही एक और फ़िल्म थी ज़ुबैदा' | जिसमें पिता और पति के अहं की शिकार बनकर ज़ुबैदा अपने उत्कट प्रेमी के साथ अन्ततः मौत को अंगीकार कर लेती है क्योंकि उसे डर था कि उसका प्रेमी भी व्यस्तता भरी परिस्थितियों के चलते कहीं उससे दूर न चला जाए !!! यहाँ स्त्री का महास्वार्थी रुप प्रखर होकर सामने आया है.....फ़िर चाहे वो प्रेम जैसी पावन भावना से भी क्यों न जुडा हो |

'दिल बोले हडिप्पा' फ़िल्म में नायिका अपने पर लगाए तमाम प्रतिबन्धों को बहुत ही होशियारी से सरका देती है | वह वीरां से वीर बनकर अपना दाय हासिल करती है | अंत में, जब वर्ल्ड कप जीतने के बाद वह यह राज खोलती है तो लोगों को साँप सूंघ जाता है | उस समय वो जो कहती है, वह हर स्त्री के मन की पीडा है- ''त्व्व्ड्डी तालियों की गडगडाहट इक्क मिनिट में बन्द हो गई न ! यही है हर लडकी की सच्चाई | .....एक एक के होंठों पे सवाल है पर जवाब किसी के पास नही |.....मै जानती हूँ,मुझे यही कहा जाएगा कि कुडियों की टीम है न.....वही जाकर खेलो | गाँव में कहाँ है कुडियों की टीम ??? खिलाडी का खेल देखो उसका नाम नहीं | चाँद पर जाने वालों

में एक सुनीता विलियमस भी तो थी | जेल में कैदियों के होश ठिकाने लगाती किरण बेदी भी तो है |जेल नू छड्डो अपने देश को चलाने में कौन सी कसर छोडी इन्दिरा गाँधी ने | खूब लडी मर्दानी वो तो झाँसी वाली रानी थी | थी तो वो भी बन्दी ही न ? उससे तो नही कहा ,अन्दर जाना मना है |.....जब तक यह फ़र्क रहेगा हर दूसरी गली में वीरा, वीर बनेगी | उसे आगे बढने से तो रोक लोगे खेलने से भी ,मगर सपने देखने से कैसे रोकोगे ???

तसलीमा नसरीन कहती है," जिस दिन ये समाज स्त्री शरीर का ही नहीं शरीर के अंग प्रात्याग का नहीं स्त्री की मेधा औए श्राम का मूल्या देना सीख जाएगा,सिर्फ़ा उसी दिन स्त्री मनुष्या के रुप में स्वीकृत होगी | (तसलीमा नसरीन पृ* 99) प्राखर नारीवादी सीमोन का भी मानना था कि स्त्री और पुरुष प्राकृतिक भेद को बनाए रखते हुए भी यदि सामाजिक भेद को मिटा दे ,सौहार्द्रा स्थापित कर लें ,तभी मानवीय संस्कृति का विकास संभव है |"(सीमोन द बोउवार,स्त्री उपेक्षिता-पृ*43) प्रसाद सच ही कहते थे - मनु तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में सत्ता है कुछ नारी की,

समरसता ही संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की|

अंत में,

हर मुश्किलों-सितम ने मुझे, ताकत ही अता की है

मिटाने वाली हर इक लहर ने, मुझको बसा दिया है

डॉ अनीता नायर

ऐसोसिएट

भारतीय उच्चा अध्यायन संस्थान

शिमला

ई-मेल-meanitanair@rediffmail.com

सन्दर्भ-सूची-

1 भारतीय चलचित्र-डॉ महेन्द्र मित्तल(अलंकार प्रकाशन दिल्ली)

2 70 years of Indian cinema-T M Ramachandran

3 नया सिनेमा-विनोद भारद्वाज-वाणी-प्रकाशन

4 उपन्यास और फ़िल्म की सीमाएँ-आलेख-जार्ज ब्लूस्टोन-पटकथा,14 मार्च1992

5 राजकपूर अभिनन्दन ग्रांथ- ह* प्रसाद जोशी

6 हिन्दी सिनेमा का सुनहरा सफ़र- सं* बद्रीप्रसाद जोशी

7 भारतीय फ़िल्मों की कहानी-बच्चन श्रीवास्तव

8 साहित्यिक कृति के फ़िल्मा में रुपान्तरण की समस्या-डॉ सुरेन्द्रानाथ तिवारी-राष्ट्रीय फ़िल्म संग्रहालय,पूना में प्रस्तुत लघुशोध प्रबन्ध

9 भारतीय चलचित्रा का इतिहास-फ़िरोज रंगूनवाला

10 सिनेमा और समाज-विजय अग्रवाल,सत्साहित्य प्रकाशन,दिल्ली

11 भारतीय नया सिनेमा-सुरेन्द्रनाथ तिवारी,अनामिका पब्लिशर्स,दिल्ली

12समय और सिनेमा-विनोद भारद्वाज,प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली

13 हिन्दी सिनेमा का इतिहास-मनमोहन चड्डा

14 अवर सिनेमा देयर सिनेमा-सत्यजीत रे

15 सिनेमा एण्ड आई- ऋत्विक घटक

16 भारतीय सिनेमा का सफ़रनामा-पुनीत बिसारिया,राजनारायण शुक्ल

17 सत्यजीत राय का सिनेमा-चिदानन्द दास गुप्ता अनुवाद-अवधनारायण मुद्गल,नेशनल बुक ट्रस्ट ,

इण्डिया

18 सिनेमा-कल,आज और कल-विनोद भारद्वाज

वाणी प्रकाशन,दरियागंज